अक्तूबर १९९५ हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

प्रकाश-पर्व

मेरे प्यारे साधक, साधिकाओ!

प्रज्ञा की ज्योति जगमगाती रहे!

दीपक का प्रकाश बाहर के अँधेरे को दूर करता है। सचमुच बड़ा उपयोग है इसका। परंतु दीपक का प्रकाश हमारे भीतर के अँधेरे को दूर नहीं कर सकता। बाहर का अंधकार बड़ा अप्रिय है, बड़ा हानिकारक है। परंतु भीतर का अंधकार उससे हजारों गुना अधिक अप्रिय है, अधिक हानिकारक है। हमारा महत कल्याण तो भीतर का अंधकार दूर करने में है।

क्या है यह भीतर का अंधकार? यह जो मूढ़ अवस्था है, मोह अवस्था है, अज्ञान अवस्था है, यही अविद्या है, यही भीतर का अंधकार है। इसके कारण राग उत्पन्न होता है, और जहां राग है वहां द्वेष होगा ही।

यह राग और यह द्वेष ही हमारे मन में अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न करते हैं। भय, आशंका, क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, मात्सर्य, लोभ, लोलुपता आदि सभी मनोविकार राग और द्वेष की ही उपज हैं। सभी अविद्या के अंधकार में पनपते हैं। जहां भय है, आशंका है, क्रोध है, घृणा है, ईर्ष्या है, मात्सर्य है, लोभ है, लोलुपता है वहां सुख कहां? शांति कहां? चैन कहां? इन मनोविकारों से छुटकारा पाने में ही हमारी मुक्ति है, हमारा मंगल है, हमारा कल्याण है।

इन्हें दूर करने के लिए इनकी जड़ को उखाड़ फेंकना होगा। अविद्या के अंधकार को हटाना होगा और वह होगा प्रज्ञा के प्रकाश से ही, विद्या के विवेक से ही। प्रज्ञा-प्रदीप को सदैव आवलित रखने के लिए जागरूकता का अभ्यास करते रहना होगा। प्रज्ञा में स्थित रहने के लिए सदा सचेत रहने का अभ्यास करते रहना होगा। दुष्प्रज्ञता की बेहोशी दूर करने के लिए सदा होश ठिकाने रखने होंगे। सदा जागरूक रहना ही ऐसा प्रकाश है जो कि अविद्या के अंधकार को दूर करता है और सारे मनोविकारों की गांठें खोल कर हमें बंधन्मुक्त बनाता है।

बीती हुई बातों की याद में व्याकुल रहना जागरूकता नहीं है। जागरूकता है इस क्षण के प्रति सचेत रहने में। इस क्षण के प्रति सचेत रहना ही विपश्यना है। विपश्यना का अभ्यास जागरूकता का ही अभ्यास है। यह अभ्यास निरंतर चलते रहना चाहिए, जिससे हमारा अंतर्मन अविद्या के अंधकार से सदा दूर रहे और प्रज्ञा की दीपमालाओं से सदा जगमगाता रहे। प्रज्ञा में स्थिर रह कर यदि हम सच्चे संत बन जायँ तो सदा दीवाली मनती रहे। आठों पहर अंतर्मन प्रज्ञा के प्रकाश से जगमगाता रहे। यही सच्चा प्रकाश-पर्व है। हमारे मंगल का आदि मूल। हमारे कल्याण का सही कारण।

दीवाली के अवसर पर हम अपना घर-आंगन झाड़-बुहार कर स्वच्छ सुंदर बनाते हैं। इसे सजाते हैं, सँवारते हैं। शरीर भी रगड़-रगड़ कर धोते हैं। इसे साफ-सुथरा बना कर वस्त्रों से, आभूषणों से अलंकृत करते हैं। बाहर की यह सफाई-सजाई अच्छी है, कामकी भी है। परंतु इससे कहीं ज्यादा अच्छी और कहीं ज्यादा कामकी सफाई-सजाई तो हमारे अंतर्मन की है, जो कि कूड़े-करकट से, झाड़-झंखाड़ से, धूल-गर्दे से, जाले-जंजालों से भरा पड़ा है। जब तक भीतर की गंदगी दूर न कर ली जाय तब तक केवल बाहर की सफाई-सजाई सच्चा सुख और शांति नहीं दे सकती।

मन की गंदगी क्या है? मन की गंदगी मोह है, मन की गंदगी राग है, मन की गंदगी द्वेष है। मन की ये गंदगियां अन्य अनेक गंदगियों को अपनी ओर खैंचती रहती हैं। जब तक मन में राग, द्वेष और मोह के जाले लटक रहे हैं तब तक अनेक मनोविकारों का धूल-धूसर इन पर जमता ही रहेगा। बाहर-बाहर की सफाई मन के भीतर लटकते हुए इन धूल-भरे जालों को दूर नहीं कर सकती। मन को स्वच्छ-साफ नहीं रख सकती। जब तक मन स्वच्छ-साफ न हो तब तक सच्चे सुख, शांति और समृद्धि की आशा करना व्यर्थ है।

विपश्यना साधना द्वारा याने सत्य के प्रति सतत जागरूक रहने के अभ्यास द्वारा मन को स्वच्छ-साफ कर लेने के बाद ही उसका सजाव-शृंगार किया जा सकता है। मन की सजावट होती है मैत्री और करुणा के अलंकारों से। सत्य का सहारा लेकर मन को असीम प्रेम और करुणा के भावों से ओत-प्रोत कर लें, यही मन की सच्ची सफाई-सजाई है और इसी में हमारा सच्चा मंगल है।

कहीं ऐसा न हो जाय कि हम बाहरी-बाहरी सफाई-सजाई में ही संतोष मान कर रह जायँ। सफाई मन की हो, सजाई मन की हो। मन की यह सफाई-सजाई किसी विशेष त्यौहार के दिन ही नहीं बल्कि नित्य प्रति होती रहनी चाहिए। अपने शरीर को रोज स्वच्छ साफ रखना चाहिए। अपने घर-आंगन को रोज साफ-सुथरा रखना चाहिए। जितना यह आवश्यक है उससे कहीं ज्यादा आवश्यक यह है कि अपने मन को भी धो-पोंछ कर निर्मल बनाए रखना चाहिए। दीवाली की सजाई रोज होनी चाहिए। बाहर और भीतर की स्वच्छता के प्रति हमारा उत्साह कभी मंद नहीं पड़ने पाए। आंतरिक स्वच्छता और सजावट के लिए विपश्यना की बुहारी मन के जालों को दूर करती रहे। मैत्री भावना का अभ्यास उसे सदा सजाता रहे। ऐसी दीवाली हम रोज मनाते रहें। इसी में हमारा सच्चा कल्याण है! सच्चा मंगल है! सच्चा भला है!

विजय-पर्व

विजय-पर्व मनाने का एकमात्र उद्देश्य यही होना चाहिए कि किसी की विजय को याद कर हम भी विजयी बनने की प्रेरणा प्राप्त करें और प्रयत्नशील होकर स्वयं विजयी बनें। किसी की विजय का गुणगान गा लेने मात्र से अथवा जश्न या खुशियां मना लेने मात्र से हमें क्या मिला? हमारा लाभ तो स्वयं विजयी बनने में है। किसी ने अपने दुश्मनों पर विजय पायी और फलस्वरूप उन दुश्मनों के अत्याचारों से मुक्त होकर सुखी हो गया। इससे हमें सुख कैसे मिला? हम तो तभी सुखी होंगे जबकि स्वयं अपने दुश्मनों का खात्मा कर लेंगे, अपने दुश्मनों के अत्याचारों से मुक्ति पा लेंगे।

भगवान बुद्ध ने अपने दुश्मन पर विजय पायी। उनका दुश्मन था मार याने मृत्युराज। यह हम सब का भी दुश्मन है। मृत्युराज के चंगुल से निकलना सचमुच बड़ा ही कठिन काम है। राग, रति और तृष्णा उसकी बेटियां हैं। इन बेटियों के बल पर यह सभी लोगों पर अपना अधिकार जमाए हुए है। सभी प्राणी राग, रति और तृष्णा के आधीन हैं। बार-बार इन वासनाओं के जाल में उलझ कर जन्म लेते हैं और बार-बार मृत्यु के मुँह में पड़ते हैं। भगवान बुद्ध की यही सम्यक संबोधि थी, यही उनकी विमुक्ति थी कि उन्होंने तृष्णा, राग, रति को जड़ से उखाड़ कर फेंक दिया और मृत्युराज को निरुपाय कर दिया, निहत्था, निःशस्त्र, निर्बल करके परास्त कर दिया। अब बुद्ध के लिए न बार-बार का जन्म रह गया और न बार-बार की मृत्यु रह गयी। वह मार [मृत्यु] के बंधनों से मुक्त हो गये।

बुद्ध ने मार को परास्त कर दिया, बुद्ध ने मार पर विजय प्राप्त कर ली, इसलिए हम खुशियां मनाएं और बुद्ध के गुणगान गाएं तो इससे हमें क्या मिल जाने वाला है? क्या इससे हम भी मुक्त हो जाएंगे? क्या इससे हम भी मृत्यु के चंगुल से छुटकारा पा लेंगे? क्या इससे हम भी अमृत-पद प्राप्त कर लेंगे? यदि ऐसा होता तब तो विजय की खुशियां मनानी अवश्य सार्थक होती। परंतु ऐसा होता कहां है? यदि बुद्ध द्वारा मार को जीत लेने पर सारी दुनिया सदा के लिए मृत्यु के चंगुल से छुटकारा पा चुकी होती तब तो यह खुशियां मनाई जानी अवश्य माइने रखती। परंतु ऐसा तो हुआ नहीं, ऐसा कभी होता भी नहीं। सभी लोग मृत्यु के आधीन हैं, क्योंकि सभी लोग तृष्णा के आधीन हैं तो खुशियां किस बात की? अमृत तत्त्व प्राप्त करने के लिए तो एक-एक को स्वयं अपनी लड़ाई लड़नी होगी। स्वयं अपने भीतर समाई हुई तृष्णा को नेस्त-नाबूद करना होगा, उसे जड़ से उखाड़ना होगा। तभी विजय मिलेगी, तभी मुक्ति मिलेगी। बुद्ध की विजय बुद्ध के लिए मुक्तिदायिनी साबित हुई। इसी प्रकार एक-एक व्यक्ति की अपनी विजय ही उसके लिए मुक्तिदायिनी साबित होगी। हां, किसी अन्य की विजय, किसी अन्य की मुक्ति हमारे लिए प्रेरणा का कारण अवश्य बननी चाहिए, हमारे लिए मार्ग-निर्देशिका अवश्य बननी चाहिए। हम भी उसी मार्ग को अपनाएं, जिसे अपना कर कोई व्यक्ति विजयी बना, मुक्त बना। हम भी उसी रास्ते पर चल कर विजयी बनें, मुक्त बनें। तभी विजय-पर्व मनाने का अर्थ है, कोई लाभ है, कोई मतलब है।

किसी एक व्यक्ति विशेष द्वारा किसी अन्य व्यक्ति पर विजय प्राप्त करने की याद में खुशियां मनाना तो और भी बेमाने है। विजय-दशमी के दिन सम्राट अशोक ने कलिंग देश को परास्त किया। वहां के लोगों पर विजय प्राप्त की। भयानक संग्रआम में हजारों लोग मारे गये, लाखों अंगहीन हो गये, कितने अनाथ हुए, कितनी मांगों का सिंदूर पुँछ गया, कितनी गोदें सूनी हो गयीं, कितने घर उजड़ गये, कितने चमन वीरान हो गये। बर्बादी के इस माहौल में अशोक ने कलिंग देश पर विजय पायी। क्या हम इस विजय की खुशियां मनाएं? क्या यह विजय सचमुच विजय थी? इस विजय की महिमा बढ़ाने के लिए और विजेता की गौरव-गरिमा स्थापित करने के लिए न जाने कितने कवियों, लेखकों और साहित्यकारों ने कलिंग पर हर प्रकार की दुष्टता और अशोक पर हर प्रकार की सौजन्यता का गहरा रंग-रोगन चढ़ा दिया होता। परंतु इससे भी यह विजय, विजय नहीं होती। यह तो अशोक की पराजय थी। वह अपनी लालसाओं का गुलाम था। एषणाओं का दास था, तृष्णाओं का बंदी था। उनको वह जीत कहां सका? जीतता तो इतनी भयानक बर्बादी करता ही कैसे?

उसकी सच्ची विजय तो इस बात में हुई कि इस विनाशलीला ने उसकी आंखें खोल दी। संत पुरुष अरहंत मोग्गलिपुत्त तिस्स के संपर्क में आकर इस विजय-दशमी के दिन ही उसे अपनी भूलों का बोध हुआ। फलतः हिंसा के मार्ग का परित्याग कर उसने शांति-पथ चुना। यही उसकी विजय थी। उसने अपने आपको जीता, अपने मन को जीता, अपने मन में समाए हुए दुर्गुणों को परास्त किया। अब चण्ड-अशोक धम्म-अशोक बन गया। देवताओं सहित सभी प्राणियों को प्यारा लगने वाला **देवानाम्प्रिय अशोक** बन गया। युद्ध की विकराल वालाएं बुझ गयीं। शांति की चांदनी शीतलता बरसाने लगी। सारे देश में प्रेम, करुणा और जन-सेवा की पावन गंगा लहराने लगी। चारों ओर सुख-शांति और समृद्धि का साम्राज्य छा गया। यही अशोक की सच्ची विजय थी।

ऐसी विजय हमें भी प्राप्त हो। हम भी अपने मन में समाए हुए सभी दुर्गुणों की आग बुझा सकें, अपने अंतर्मानस को निर्मल शांति-लहरियों से उर्मिल कर सकें। यही जीत हमारी सच्ची जीत होगी। बाहर के दुश्मनों को जीतना, कोई जीत नहीं है। हिंसा के बल से एक को जीत भी लेंगे तो दूसरा अधिक बलवान व्यक्ति अपना सिर उठायेगा और हमें डरायेगा। जय-पराजय का यह चक्र हमें सदा अशांत ही रखेगा। हम सदा अपने से अधिक बलवान से भयभीत ही रहेंगे। निर्भयता हमसे कोसों दूर रहेगी। ऐसी अवस्था में हम भला अपने आपको विजयी कैसे कह सकेंगे? भगवान ने कितना ठीक कहा, "हजार बार हजार युद्ध भूमियों पर हजार-हजार योद्धाओं को अकेला परास्त कर देने वाला भी विजयी कहलाने योग्य नहीं है। सच्चा विजयी तो वही है जो कि अपने आपको जीत चुका है।" बाहरी दुश्मनों को जीतने वाला सदा बैर, विग्रह और अशांति ही बढ़ाता है। वह सुख से नहीं सो सकता। सुख से वही सो सकता है जो कि बाहरी हार और जीत से ऊपर उठ गया है। बाहरी हार और जीत से वही ऊपर उठ सकता है, जो कि अपने भीतरी दुश्मनों को जीत चुका है, जो अपने मन को जीत चुका है, मनोविकारों को जीत चुका है।

सचमुच जिसने अपना मन जीत लिया, उसने जग जीत लिया। जो अभी तक अपने मानसिक व्यसनों का गुलाम है, वह चक्रवर्ती सम्राट हो कर भी पराजित ही है। अतः दूसरे को जीत कर हमें क्या मिलेगा? जीतना है तो अपने आपको जीतें। यही सच्ची जीत है। यदि किसी दूसरे को जीतना ही चाहते हैं तो अपने निश्छल प्यार से जीतें, असीम करुणा से जीतें, अपरिमित मैत्री से जीतें। डंडे से नहीं, बंदूक से नहीं। डंडे और बंदूक की जीत, जीत नहीं होती। हर डंडे के मुकाबिले में कोई न कोई बड़ा डंडा तैयार होता रहता है। हर बंदूक के मुकाबिले में कोई न कोई बड़ी बंदूक तैयार होती रहती है। इस स्पर्धा में जीत कहां? परंतु जिसे प्यार से जीत

लें, मैत्री और करुणा से जीत लें, वह जीत फिर हार में नहीं बदल सकती। कोई उससे बड़ी मैत्री पैदा करके, उस विजय को पुष्ट ही करेगा। उसके नष्ट होने की कतई आशंका नहीं।

अंगुलिमाल एक बड़ा खौफनाक डाकू था। मनुष्य की देह में पूरा पिशाच। कौशल देश का राजा प्रसेनजित उस राक्षस के बोझ से पृथ्वी का भार हल्का करना चाहता था। वह उसे मारने में सफल नहीं हुआ। यदि अपने विपुल सैन्य-बल से वह अंगुलिमाल को मार भी देता तो क्या इससे समस्या का समाधान हो जाता? किसी को मार देने से, न मरने वाले का उद्धार होता है, न अन्य लोगों का। असली उद्धार तो उसको बदल देने में है। उसको दानव से मानव बना देने में है। उसकी पैशाचिक वृत्तियां नष्ट कर देने में है, और यह काम असीम मैत्री और करुणा से ही हो सकता है। डंडों से नहीं, बंदूक की नलियों से नहीं। जो काम राजा प्रसेनजित की सेना की तलवारें नहीं कर सकीं, वही तथागत की असीम मैत्री ने कर दिखाया। भगवान ने अपनी अपरिमित मैत्री और करुणा के बल पर उस भूले-भटके व्यक्ति को सही मार्ग पर स्थापित किया। उसे सदा के लिए जीत लिया। धर्म का अभ्यास कर वह अरहंत हो गया। जीवन्मुक्त हो गया। उसके भीतर समाई हुई सारी पापवृत्तियां दूर हो गयीं। अब वह धरती पर भार नहीं रहा। लोगों के त्रास का कारण नहीं रहा। अब तो वह संत पुरुष शुद्ध-चित्त से लोगों की सेवा में लग गया। सही माने में उसका भी उद्धार हुआ और जनता का भी।

ऐसा उद्धार डंडे के बल पर कभी नहीं हुआ करता। हिंसा से हिंसा पर विजय नहीं पायी जा सकती। बैर से बैर पर विजय नहीं पायी जा सकती। अहिंसा और मैत्री से ही, हिंसा और बैर को जीता जा सकता है। उनका शमन किया जा सकता है। यही सनातन धर्म है, यही प्रकृति का अटूट नियम है। धर्म के गूढ़ रहस्य को हम भी समझें और हत्या के बजाय प्यार और करुणा द्वारा किसी बुरे की बुराई को जीतने का प्रयत्न करते रहें। यह प्रयत्न तभी सफल हो सकता है जबकि हम पहले अपने आप को पूरी तरह जीत लें, अपने अंतर्मन को गंदगियों से दूर करके उसे स्वच्छ और निर्मल बना लें। ऐसा निर्मल हुआ अंतर्मन ही मैत्री और करुणा से परिपूर्ण हो सकेगा। तभी वह औरों को भी प्रेरित-प्रभावित कर सकेगा। जब तक ऐसा न होने लगे तब तक अपने आपको ही जीतने में लगे रहें, अपने आपको ही स्वच्छ और निर्मल करने में लगे रहें।

व्यावहारिक जीवन में हमें कभी-कभी किसी पागल व्यक्ति का सामना करना पड़ जाता है, तो उसके साथ कठोरता का बर्ताव करना जरूरी हो जाता है। ऐसे समय अवश्य कठोरता बरतें। परंतु बरतें उसके पागलपन के प्रति। उस पागल के प्रति तो हमारा मन करुणा से ही भरा हो। ठीक वैसे ही जैसे कि डॉक्टर फोड़े के प्रति कठोरता बरतता हुआ उसे चीरता है, परंतु रोगी के प्रति तो उसके मन में करुणा ही करुणा समायी होती है।

विपश्यना के सतत अभ्यास द्वारा आत्मविजयी बनें, तृष्णा को जड़ से उखाड़ फेंकें, आसक्तियों के बंधन से मुक्त हो जायँ और इस प्रकार सही अर्थ में विजय-पर्व मनाना सीखें। इसी में हमारा मंगल है, कल्याण है, भला है। यही हमारी सच्ची विजय है। इसे ही प्राप्त कर हम स्वयं सुखलाभी हों तथा औरों के भी सुख-वर्धन का कारण बनें!

कल्याण मित्र,
स. ना. गो.

(१९७१ में प्रकाशित लेख नए साधकों के लाभार्थ पुनर्मुद्रित)

साधकों के उद्गार

बच्चों में बदलाव

पूना की 'अभिनव पाठशाला' की चाइल्ड सायकॉलॉजिस्ट – अश्विनी नवरे लिखती हैं, "हमारी पाठशाला में ९ वर्षीय एक लड़के को सप्ताह में ७-८ बार बुरे बर्ताव के कारण सजा मिलती थी। उसे पता था कि उसे बहुत जल्दी गुस्सा आता है पर गुस्से पर काबू करना नहीं आता था। उसे आनापान की साधना सिखायी गयी। स्कूल में नित्य १० मिनट और घर पर भी दस मिनट साधना करने को कहा गया। कुछ दिनों बाद उसने बताया कि उसे अब गुस्सा आता है तो सांस देख कर गुस्से को थोड़ा कम कर लेता है। धीरे-धीरे अन्य बच्चों ने उसे अपने साथ लेना शुरू कर दिया। उसने यह भी देखा कि सांस देख कर उठता है तो उसे शांति महसूस होती है और मन का तनाव व गुस्सा कम हो जाता है। अपनी कक्षा में अब शांतिपूर्वक बैठ सकता है और सजा की जरूरत ही नहीं रही। बाद में इसने बच्चों का एक दिवसीय शिविर भी किया और नियमित अभ्यास कर रहा है।

मैं गत एक वर्ष से ऐसे ७ से १२ वर्ष की उम्र के बच्चों को 'बिहेवियरल', 'इमोशनल' और 'अकैडमिक' (अध्ययन) समस्याओं पर 'प्ले थेरॉपी' देने का काम कर रही हूं। स्कूल में वरिष्ठों की आज्ञा से थोड़ी देर आनापान विधि का अभ्यास भी कराती हूं। प्रारंभ में बच्चों को दो मिनट शांत बैठने का ही लक्ष्य रखा गया था। बाद में पांच मिनट तक आनापान विधि से सांस देखने का काम कराया जाने लगा। इन बच्चों को घर पर भी अभ्यास करने के लिए कहा गया। जिन्होंने निरंतरता कायम रखी उन सब में कुछ न कुछ बदलाव दिखायी देता है। उनको शांति महसूस होती है और पढ़ाई में मन लगता है। ध्यान करने के बाद उन्हें कुछ देर तक बहुत अच्छा लगता है।"